

विनोबा के अनुसार यज्ञ की अवधारणा

सुमन लता*

समष्टि के कल्याण के लिए निःस्वार्थभाव से स्वधर्म समझकर किया जाने वाला कर्तव्यकर्म यज्ञ है। कर्म बन्धन और मोक्ष दोनों का कारण है। वस्तुतः कर्म में कोई बन्धन नहीं है। कर्म मेरा है, यही बन्धन है। इसलिए यदि कर्म परमात्मा का है, ऐसा कहने का साहस जुटा लें तो कर्म यज्ञ हो जाता है, और उसका बन्धन गिर जाता है। ऐसा कर्म जो मेरा नहीं परमात्मा का है वह बन्धनकारी नहीं होता, ऐसे कर्म का नाम यज्ञ है। विनोबा के अनुसार- “अपने कृत्यों का सम्बन्ध परमेश्वर से जोड़ना चाहिए, कर्म यदि शुद्ध भावना से परिपूर्ण और सेवामय हो तो वह यज्ञ है।”¹ यज्ञ शब्द के अन्तर्गत यज्ञ, दान, तप, होम, तीर्थ-सेवन, व्रत, वेदाध्ययन आदि समस्त शारीरिक, व्यावहारिक, पारमार्थिक क्रियाएँ आती हैं। विनोबा ने यज्ञ का बहुत ही व्यापक अर्थ किया तथा जीवन के प्रत्येक पक्ष और प्रत्येक कर्म को गीतोक्त यज्ञ के साथ जोड़ा। गीता में कहा भी गया है-

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसैः समाचर॥²

अर्थात् यज्ञ कर्म से इतर समस्त कर्म बन्धनकारी हैं। इतरकर्म स्वयं के साथ-साथ लोक के लिए भी हानिकारक हैं। मात्र यज्ञ कर्म ही लोक और सृष्टि के लिए कल्याणप्रद हैं। क्योंकि यज्ञ में स्वार्थ का परित्याग और परार्थ के मंगल की भावना होती है। यज्ञ के अर्थ को स्पष्ट करते हुए विनोबा ने कहा-इस सृष्टि संस्था से हम प्रतिदिन कुछ न कुछ लेते हैं। जिस स्थान पर हम समूह रूप में निवास करते हैं, उस स्थान और उसके आस-पास के वातावरण, वहाँ की सृष्टि और जल को भी दूषित करते हैं। सृष्टि से उत्पन्न अन्न से जीवन यापन करते हैं तथा सृष्टि को हानि भी पहुँचाते हैं। सृष्टि संस्था की इस हानि पूर्ति के लिए भी यज्ञ संस्था का निर्माण हुआ है।³ इस हानि-पूर्ति के लिए ही कर्तव्यकर्मों का विधान बना है एक का कर्तव्य दूसरे की उन्नति का साधन है। यथा अन्न समस्त प्राणियों के जीवन का आधार है। अन्न का आधार वृष्टि है तथा वृष्टि का आधार मनुष्य का कर्तव्यकर्म रूप यज्ञ है।⁴ इस प्रकार जैसे एक का कर्तव्य दूसरे की प्रगति का कारण है उसी प्रकार एक का अकर्तव्य दूसरे की अवनति का कारण बनता है। अवनति से सृष्टि में विषमता, दुःख, लोभ, मोहादि का जन्म होता है। संसार में बन्धन उत्पन्न होता है। सृष्टि में समता प्राणियों में सद्भाव लाने के लिए, संसार से प्राप्त वस्तुओं का संसार के कल्याण के लिए सदुपयोग करना

यही यज्ञ का उद्देश्य है। विनोबा ने यज्ञ के तीन हेतु बताए हैं- प्रथम-मनुष्य द्वारा सृष्टि के पदार्थों का उपभोग करने से पदार्थों की जो हानि होती है, उसकी पूर्ति करना यज्ञ का प्रथम हेतु है। द्वितीय हेतु है उपयोग में लायी हुई वस्तुओं का शुद्धीकरण अर्थात् हम जिन वस्तुओं का उपयोग करते हैं उससे जो आस-पास का वातावरण दूषित होता है उसको शुद्ध करना। क्षतिपूर्ति और शुद्धीकरण के साथ-साथ कुछ प्रत्यक्षनिर्माण कार्य करना यह यज्ञ का तीसरा हेतु है। जैसे हम वस्त्र धारण करते हैं वस्त्र के लिए नित्य सूत्र कातना फिर नव निर्माण करना। कपास पैदा करना, अन्न उत्पन्न करना, सूत कातना ये सभी यज्ञ क्रियाएँ हैं। यज्ञ में जो कुछ निर्माण करना है वह स्वार्थ भावना से नहीं अपितु जो क्षति की है उसकी पूर्ति की कर्तव्य भावना से होना चाहिए। यज्ञ में त्याग की मुख्यता होती है। अपने कल्याण के लिए, समाज और सृष्टि के कल्याण के लिए अपने स्वार्थों, कामनाओं और इच्छाओं के त्याग के साथ-साथ कर्तव्यों के निष्कामभाव से पालन की भावना होनी चाहिए।

सृष्टि प्रथम संस्था है। इसलिए सृष्टि संस्था के प्रति अपने कर्तव्यों का निष्कामभाव से पालन यज्ञ है। दूसरी संस्था है-मानवसमाज। व्यक्ति के विकास में समाज का सबसे बड़ा योगदान है। इसलिए व्यक्ति पर समाज का ऋण होता है और उस क्षण से मुक्त होने के लिए समाज की जो सेवा की जाय वही दान है। मनुष्य समाज को आगे बढ़ाने के लिए तन, मन, धन तथा अन्य साधनों से सहायता करना दान यज्ञ है।⁵ विनोबा ने दान यज्ञ की बहुत ही व्यापक व्याख्या की है। भूदान, सम्पत्ति-दान, ग्राम-दान तथा श्रमदान को उन्होंने यज्ञ की संज्ञा दी है तथा दानयज्ञ के अन्तर्गत इन आन्दोलनों के समावेश को गीता में प्रतिपादित यज्ञ से जोड़कर, गीता के परिप्रेक्ष्य में ही उनकी व्याख्या की। भू-दान यज्ञ का समर्थन उन्होंने जिन युक्तियों के आधार पर किया उनका आधार भगवद्गीता ही है। उनका कहना था-सूर्य अपना प्रकाश सबको समान रूप से वितरित करता है। वह छोटे-बड़े का भेद नहीं करता। ईश्वर वायु, जल, प्रकाश और आकाश का वितरण सभी प्राणियों में समानभाव से करता है फिर यह किस प्रकार सम्भव है कि उसकी भूमि का वितरण असमान हो। असमान वितरण ईश्वर की इच्छा के प्रतिकूल है। दूसरा, मुक्ति सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना। जिस समाज में हमारा जन्म होता है, हम अपने जीवन और विकास के लिए उस समाज के ऋणी हैं। हम समाज के नाना उपकारों से ही विकसित और पल्लवित होते हैं। हमें जो कुछ भी शरीर धन, धान्य आदि प्राप्त हुआ है वह हमारा अपना नहीं अपितु समाज का है।⁶ इसलिए इसका उपयोग समाज के कल्याण के लिए होना चाहिए स्वार्थ की पूर्ति के लिए नहीं। अतः जमींदारों को अपनी भूमि समाज-कल्याण के लिए भूदान यज्ञ में दान करना चाहिए जिससे समाज में शान्ति स्थापित की जा सके।⁷ सम्पत्तिदान और ग्रामदान के अन्तर्गत उन्होंने स्वामित्व के दान की बात कही। समाज में असमानता भेदभाव का कारण यह वैयक्तिक स्वामित्व

*प्रवक्ता, राज्य शिक्षण एवं प्रशिक्षण संस्थान इलाहाबाद

है, इसलिए इस स्वामित्व का सामाजिक कल्याण के लिए दान किया जाना चाहिए। 'वासुदेवः सर्वमिति' इस गीतोक्त वाक्य के आधार पर विनोबा ने बहुत दृढ़ता के साथ कहा कि सम्पूर्ण पृथ्वी और सम्पत्ति ईश्वर की है। आवश्यकता से अधिक भूमि और सम्पत्ति का अधिकार व्यक्ति के पास होना, अन्य व्यक्तियों को उसके अधिकार से वंचित करता है जो कि अधर्म और अन्याय है। उनके इन प्रबोधनों का तत्कालीन समाज पर बहुत ही व्यापक प्रभाव पड़ा जिसके फलस्वरूप अनेक लोगों ने अपनी भूमि और सम्पत्ति स्वेच्छा से समाज कल्याण के लिए दान कर दी। समाज के कल्याण के लिए धनदौलत और पदार्थों का दान करना, सम्पत्ति दान के द्वारा, वापी, कुआँ, तालाब, घाट, मन्दिर, धर्मशाला, पाठशाला, गुरुकुल, अनाथालय आदि का निर्माण कराना तथा अभावग्रस्तों को अन्न, जल, वस्त्रादि देना इत्यादि को गीता में द्रव्य यज्ञ कहा गया है।⁸

सृष्टि और समाज से इतर एक अन्य प्रकार की संस्था जिसका उल्लेख विनोबा ने यज्ञ के अन्तर्गत किया वह है-शरीर। शरीर साधन है यज्ञ का, शरीर साधन है कर्त्तव्यकर्मों का। यज्ञार्थकर्म करत समय मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीर में जो विकार उत्पन्न होते हैं उनकी शुद्धि तप के द्वारा होती है।⁹ यज्ञार्थ शीत और उष्ण द्रव्यों को सहन करना तप है। गीता के अनुसार समष्टि के कल्याण के लिए निष्कामभाव से अपने स्वधर्म के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को प्रसन्नतापूर्वक सहन करना, उपवास रखना तथा मौन धारण करना भी तप यज्ञ है।¹⁰ स्वधर्म का निष्कामभाव से पालन सबसे महान यज्ञ है, इस बात पर विशेष बल देते हुए विनोबा ने कहा कि- "शूद्र, वैश्य, गंवार जिस जैसा भी सीधा-साधा जीवन है, जो कुछ स्वधर्म कर्म है, सेवा कर्म है उसी को यज्ञमय क्यों न बना दें? फिर दूसरे यज्ञ-याज्ञ की क्या आवश्यकता है। अपने नित्य क सीधे-सादे सेवा कर्म को यज्ञ समझकर करना चाहिए।"¹¹ यहाँ विनोबा ने कर्मकाण्डीय यज्ञ की निरर्थकता तथा निष्काम सेवामय कर्मरूप यज्ञ की महत्ता को प्रतिपादित किया है। गीता में परमात्म प्राप्ति के जितने साधन बताए गये हैं वे यज्ञ नाम से कहे गये हैं, जैसे-द्रव्ययज्ञ, तपयज्ञ, योगयज्ञ तथा प्राणायाम आदि। यज्ञ शब्द शास्त्रविधि से की जाने वाली सम्पूर्ण क्रियाओं का वाचक है साथ ही अपने वर्ण, आश्रम, धर्म, जाति, स्वभाव, देशकाल आदि के अनुसार प्राप्त कर्त्तव्यकर्म का भी वाचक है। एक दूसरे के हित की भावना के किये जाने वाले सभी कर्म यज्ञ है ऐसे यज्ञ का दायित्व मनुष्य पर ही है।¹² सृष्टि, समाज और शरीर इन तीन संस्थाओं का कार्य जिससे अच्छी प्रकार चल सके, उसी प्रकार व्यवहार करना हमारा कर्त्तव्य है। हम अनेक योग्य-अयोग्य संस्थाओं का निर्माण करते हैं किन्तु ये तीनों संस्थाएं कृत्रिम नहीं, अपितु

स्वभावतः प्राप्त हुई हैं। अतः इन संस्थाओं की क्षतिपूर्ति यज्ञ, दान और तप के द्वारा करना हमारा स्वभाव प्राप्त धर्म है।¹³

यज्ञ, दान और तप में कोई भेद नहीं है न ही सृष्टि, समाज और शरीर में कोई भेद है। सबमें एक ही तत्त्व की सत्ता है। 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'¹⁴ यह गीतोक्त वाक्य इसका प्रमाण है। इसलिए विनोबा ने कहा- "इन तीनों संस्थाओं के लिए हम जो-जो सेवाकार्य करेंगे वे सब यज्ञ ही होंगे। यज्ञ से सृष्टि में साम्यावस्था, दान से समाज में साम्यावस्था और तप से शरीर में साम्यावस्था रहती है।"¹⁵ इस साम्यावस्था को स्थापित करनेके लिए गीता में यज्ञ को प्रजाओं के साथ उत्पन्न¹⁶ तथा आदान-प्रदान का साधन बताते हुए कहा गया है कि इस कर्त्तव्य कर्मरूप यज्ञ के द्वारा सबकी वृद्धि करो और यह यज्ञ तुम लोगों को कर्त्तव्यपालन की सामग्री प्रदान करने वाला हो, इस यज्ञ के द्वारा देवताओं को उन्नत करो और वे देवता लोग तुम लोगों को उन्नत करें इस प्रकार एक दूसरे की उन्नति करते हुए परमकल्याण को प्राप्त हो।¹⁷ देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्षादि प्रजा हैं। पशु, पक्षी, वृक्षादि अपने साथ यज्ञ की उत्पत्ति न जानते हुए भी स्वभावतः यज्ञ करते हैं। जैसे वृक्षादि समष्टि कल्याण के लिए ही फलते-फूलते हैं अपने लिए नहीं। इसलिए इनका यह कर्म यज्ञमय हो जाता है। प्रजा की रक्षा मनुष्य का कर्त्तव्य है और उसे यह कर्त्तव्यकर्मरूप यज्ञ लोकसंग्रह की भावना करना चाहिए, समष्टि कल्याण की भावना से करना चाहिए स्वार्थ भावना से नहीं। विनोबा ने यज्ञ के अन्तर्गत भावना पर सबसे अधिक बल देते हुए कहा कि परमेश्वर के सामने कितना दिया इस बात का महत्त्व नहीं अपितु महत्त्व इस बात का है कि किस भावना से दिया।¹⁸ जब हमारे सभी कर्म सात्त्विक होंगे तभी हम उन्हें ईश्वरार्पण कर सकेंगे। यज्ञ, दान और तप सभी सात्त्विक होने चाहिए। सूत कातना यज्ञ है किन्तु सूत कातते समय यदि उसमें अपनी आत्मा न उड़ेली, उसे गरीब असहाय जनता, दरिद्रनारायण के साथ न जोड़ा तो वह सूत्रयज्ञ जड़ हो जायेगा। दरिद्रनारायण के साथ जुड़ते ही वह क्रिया सात्त्विक हो जायेगी, पूजा हो जायेगी, यज्ञरूप सेवा हो जायेगी। उस छोटे से धागे के द्वारा हम समाज के साथ, जनता के साथ और जगदीश्वर के साथ बँध जायेंगे। सम्पूर्ण विश्व ईश्वरमय दिखाई देने लगेगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विनोबा की यज्ञ विषयक अवधारणा बहुत ही व्यापक और व्यावहारिक है तथा उसमें व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और सृष्टि सभी के कल्याण का भाव निहित है। विनोबा ने जीवन के प्रत्येक पक्ष और प्रत्येक कर्म को यज्ञ से और यज्ञ को ईश्वर से जोड़कर देखा। गीता के अनुसार

सम्पूर्ण भूतों में एक ही चेतन तत्त्व है। इसलिए विनोबा ने कहा कि अपने प्रत्येक कर्म का सम्बन्ध उस चेतन तत्त्व के साथ जोड़ना चाहिए। कर्मों का सम्बन्ध ईश्वर के साथ जोड़ने से कर्तृत्वाभिमान उड़ जाता है। कर्मों में कर्तृत्वाभिमान का न होना, शुद्ध सेवाभाव का होना ही यज्ञ हैं। यज्ञकर्म में लोकल्याण की भावना होने से वह सबके लिए हितकारी है जबकि इतरकर्मों में स्वार्थ की भावना होने से सबके लिए अकल्याणकारी है। विनोबा ने सृष्टि को एक संस्था का रूप देते हुए यज्ञ के जिन तीन हेतुओं का उल्लेख किया उनका एकमात्र उद्देश्य मानवजाति द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सृष्टि संख्या का जो क्षरण किया गया है उस क्षरण की यज्ञार्थ कर्म द्वारा पूर्ति करना, यज्ञार्थ कर्म द्वारा सृष्टि और मानव के बीच संतुलन को कायम रखना है। विनोबा ने यज्ञ के अन्तर्गत सृष्टि मानवसमाज और शरीर इन तीन संस्थाओं का उल्लेख किया। इन तीनों संस्थाओं के प्रति निष्कामभाव से अपने कर्तव्यों का पालन यज्ञ है। मानवसमाज संस्था जिसका व्यक्ति पर सर्वाधिक उपकार होता है उसमें साम्यावस्था स्थापित करने के लिए विनोबा ने श्रमदान एवं स्वामित्वदान की बात कहकर दान को यज्ञ से जोड़ा तथा उस यज्ञ में अपरिग्रह की भावना पर बल देते हुए अपनी आवश्यकता से अधिक समस्त वस्तुओं का लोक -कल्याण के लिए हवन करने को कहा जिसका महाफल भूदान, सम्पत्तिदान तथा श्रमदान आदि के रूप में सामने आया। अन्तिम संस्था है शरीर जो कि यज्ञ का प्रमुख साधन है। यज्ञार्थ कर्म करते समय शरीर में साम्यावस्था स्थापित करने के लिए तप का विधान किया। इस प्रकार सृष्टि, समाज और शरीर इन तीनों संस्थाओं में यज्ञ दान और तप रूप यज्ञार्थ कर्म द्वारा ही साम्यावस्था आती है इसी दृष्टि से यज्ञ को आदान-प्रदान का, एक दूसरे की उन्नति की साधन कहा गया है। जिस कर्म में शुद्धता है, भावना की पवित्रता है, त्याग का भाव है, संग्रह का निषेध है और लोक कल्याण की भावना है वह कर्म यज्ञ है और यज्ञकर्म ही ईश्वर प्राप्ति का मार्ग है क्योंकि ब्रह्म यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

सन्दर्भ :

1. गीता-प्रवचन, पृ0 113
2. गीता-3/9
3. गीता-प्रवचन, पृ0 234
4. गीता-3/14
5. गीता-प्रवचन, पृ0 235

6. डॉ0 वी0एल0 फड़िया, भारतीय राजनीतिक चिन्तन, पृ0 278
7. भारतीय राजनीतिक चिन्तन, पृ0 278
8. गीता-4/28
9. गीता-प्रवचन, पृ0 236
10. गीता-4/28
11. गीता-प्रवचन, पृ0 110
12. साधकसंजीवनी, पृ0 162
13. गीता-प्रवचन, पृ0 236
14. गीता-7/7
15. गीता-प्रवचन, पृ0 237
16. सहयज्ञाः प्रज्ञाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुन।
17. देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्त्यय।।
18. गीता-प्रवचन, पृ0 124
